ब्राह्मणग्रन्थ और वेदमन्त्रार्थ

प्रो. दयानन्द भार्गव

जिस प्रकार वेदों के काल के सम्बन्ध में मतभेद है उसी प्रकार वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी मतभेद है। व्याख्या सम्बन्धी इस मतभेद की चर्चा भी वैदिक साहित्य के विभिन्न इतिहासों में विस्तार से हो चुकी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम वैदिक साहित्य की वह व्याख्या लेकर चलेंगे जो ब्राह्मणग्रन्थों में दी गई है। ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्म अर्थात् वेद की व्याख्या। ब्राह्मण साहित्य विपुलकाय है और उसमें वेदमन्त्रों की क्रमशः टीका तो नहीं है परन्तु उन वेदमन्त्रों का विनियोग–किस कर्म में होता है–इसकी चर्चा अवश्य है। सहज ही इस चर्चा के अन्तर्गत वेदमन्त्र के अर्थ पर भी विचार करना पड़ता है। यह सत्य है कि इन ब्राह्मणग्रन्थों में मुख्यतः वैदिक यज्ञों का प्रतिपादन है किन्तु उस प्रतिपादन की पृष्ठभूमि में अनिवार्यतः सृष्टिविद्या का वर्णन है। इस सृष्टिविद्या के अन्तर्गत विश्व के उद्भव की चर्चा ही नहीं है अपितु विश्व के स्वरूप का विश्लेषण भी है। यह विश्लेषण पर्याप्त विस्तृत और सूक्ष्म है। इसी विश्लेषण के आधार पर वेदमन्त्रों में स्तुत देवों का भी स्वरूप ठीक से समझा जा सकता है। अधिकतर विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों को कर्मकाण्ड की पुस्तक ही समझा और उनमें दी गई सृष्टिविद्या, यज्ञविद्या तथा देवविद्या पर ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि वेद की सबसे प्राचीन व्याख्या द्वारा प्रतिपादित वैदिक जीवन दृष्टि से हम अपरिचित ही रह गए। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम मुख्यतः ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिपादित दृष्टि से ही वैदिक साहित्य में उपलब्ध होने वाली उस सामग्री का विवेचन करेंगे जो पूरे भारतीय चिन्तन का मूल स्रोत है और जिसकी प्रासङ्गिकता विज्ञान के विकास के साथ दिनों-दिन बढ़ती जा रही है।

वेदार्थ की सूक्ष्मता–

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्ये उशती सुवासाः।। (ऋग्वेद 10. 71. 4)

स्पष्ट है कि वेद का ऋषि वेदवाणी को साधारण नहीं मानता, प्रत्युत यह मानता है कि उसमें गहरे रहस्य छिपे हैं। उस छिपे हुए गूढ रहस्य को उद्घाटित करके ही कोई वेद-व्याख्या कृत-कृत्य हो सकती है। केवल शब्द का अर्थ कर देने मात्र से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

साक्षात्कृद्धर्मा वैदिक ऋषि

सायणाचार्य ने वेदार्थ की गूढ़ता को यह कहकर प्रकट किया है कि वेद की वेदता इसमें है कि वेद उन उपायों का वर्णन करता है जो न प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा नहीं जाने जा सकते।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतद्विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।

प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा तो हम जैसे साधारण मनुष्य भी पदार्थों को जानते ही हैं, किन्तु वेद के ऋषियों की विशेषता यह है कि वे अपनी क्रान्तदर्शिता द्वारा उन धर्मों का भी साक्षात्कार कर लेते हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं जान सकते। वेदार्थ को जानने के लिये प्राचीनतम वैदिककोश निघण्टु पर निरुक्त नामक व्याख्या लिखने वाले यास्क ने ऋषियों का विशेषण 'साक्षात्कृतधर्मा' दिया है। साक्षात्कार अतीन्द्रिय ज्ञान को कहा जाता है।

वेदों की प्रतीकात्मक भाषा

विज्ञान के क्षेत्र में भी आज परापरमाणु (सब्-एटोमिक) स्तर पर ऐसे अस्तित्व की चर्चा की जाती है जो अतीन्द्रिय है। यह परापरमाणु जगत् तो एक सीमा तक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय है भी, किन्तु मनु तो वेद की सीमा उस स्तर तक मानते हैं जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान जा ही नहीं सकता। एक समय तक विज्ञान का विषय भौतिक जगत् ही था। किन्तु आज का विज्ञान आकर्षण-शक्ति-क्षेत्र तथा विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र जैसे स्थूलेतर विषयों का भी अध्ययन करता है। परापरमाणु स्तर पर विवेचन करते समय भौतिक विज्ञान के सम्मुख जो समस्या आती है उसका उल्लेख डब्ल्यू हाईजनबर्ग ने इन शब्दों में किया है-

इस क्षेत्र में भाषा की समस्या वस्तुतः गम्भीर है। हम परमाणु की रचना के सम्बन्ध में किसी प्रकार कुछ कहना चाहते हैं-किन्तु परमाणु के सम्बन्ध में दैनन्दिन व्यवहार की भाषा में कुछ नहीं कहा जा सकता है।[१]

डॉ. फ्रिटजॉ काप्रा ने इस स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है-

इस स्तर पर पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान सीधा ऐन्द्रिक अनुभव से नहीं आता, अतः सामान्य भाषा जो कि इन्द्रियगोचर जगत् से ही बिम्ब ग्रहण करती है, प्रतीति में आने वाली स्थिति का वर्णन करने के लिये पर्याप्त नहीं रहती।[२]

भाषा सम्बन्धी इस कठिनाई को दूर करने के लिये विज्ञान गणितीय भाषा का प्रयोग करता है । भाषा सम्बन्धी यह कठिनाई वेद के सम्मुख भी है, क्योंकि उसे भी अतीन्द्रिय अनुभवों को अभिव्यक्त करना है। वेद इस कठिनाई का समाधान प्रतीकात्मक भाषा का सहारा लेकर करता है। अतः वेदव्याख्या

का मुख्य लक्ष्य प्रतीक अथवा पारिभाषिक शब्दों का अर्थ खोलना है। वेद की इस प्रतीकात्मक शैली को ही लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों में इस रूप में कहा है कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं, प्रत्यक्षप्रिय नहीं–परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः (गोपथ ब्राह्मण १.२.२१)। गणित की भाषा कृत्रिम है किन्तु प्रतीक की भाषा में हम उन्हीं शब्दों को काम में लेते हैं जिनका प्रयोग हम दैनन्दिन व्यवहार में करते हैं तथापि उन दैनन्दिन शब्दों का भी प्रतीक रूप में प्रयोग होने पर वह अर्थ नहीं रह जाता जो अर्थ सामान्य व्यवहार के समय रहता है। अतः लौकिक संस्कृत का ज्ञान वैदिक मन्त्रों के अन्वय तथा शब्दार्थ जानने में भले ही सहायक हो जाये, किन्तु वैदिक मन्त्रों का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिये हमें वैदिक शब्दों के पारिभाषिक अथवा प्रतीकार्थ जानने ही होंगे। वैदिक शब्दों के ये पारिभाषिक या प्रतीकार्थ जितनी विशदता से ब्राह्मण ग्रन्थों में दिये गये है, अन्यत्र कहीं नहीं दिये गये। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों का गहरा और विस्तृत अध्ययन किये बिना वेद के मर्म को जानना असम्भव है।

वैदिक शब्द के अर्थों की व्यापकता

वैदिक शब्दों का अर्थपटल व्यापक है। उदाहरण के लिये हम अग्नि शब्द को लें। ऋग्वेद के प्रारम्भ में प्रथम शब्द अग्नि ही आया है। अग्नि शब्द का सामान्य अर्थ आग है, किन्तु ऋग्वेद (१.१६४.४६) कहता है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा–ये सब अग्नि के ही नाम हैं–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

स्पष्ट है कि ऐसा वक्तव्य सामान्य अग्नि के लिए नहीं दिया जा सकता। अग्नि का एक रूप वह है जो भट्टी आदि में दिखाई देता है। दूसरी ओर शतपथ ब्राह्मण(१४.८.१०.१) में अग्नि के उस स्वरूप की चर्चा है जिसे वैश्वानर कहा जाता है और जो हमारे शरीर के अन्दर रहकर अन्न पचाता है–अयमग्निर्वैश्वानरः। योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते। यह वैश्वानराग्नि भट्टी की भूताग्नि से कहीं अधिक सूक्ष्म है। जो काम यह अन्न को रक्त मांसादि में परिणत करने का करती है वह कार्य भट्टी की भूताग्नि कदापि नहीं कर सकती। यही अग्नि ऊष्मा के रूप में जीवनी शक्ति है। जब तक यह ऊष्मा है तब तक जीवन है। जीवनशक्ति के रूप में इस अग्नि का नाम महाभारत वनपर्व-मार्कण्डेय समस्यापर्व-२२१.४ में मनु दिया है–

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत्।।

अग्नि का एक अन्य रूप ब्रह्माग्नि है। यह ब्रह्माग्नि ही हमारे समस्त चिन्तन का प्रेरणा स्रोत है। इस ब्रह्माग्नि रूप के सम्बन्ध में ही मैत्रायणी संहिता (१.६.१) कहती है 'अग्निर्ऋषिः' अर्थात् अग्नि ऋषि

है। इस प्रकार के वक्तव्य आधुनिक वैज्ञानिक को स्वीकार्य नहीं है। ब्रह्माग्नि की बात तो दूर , वह तो जठराग्नि को भी मानने के लिये तैयार नहीं है। इसका कारण यह है कि वह अग्नि शब्द से केवल भूताग्नि को ही समझता है और अन्न की पाचन क्रिया में उसे कहीं भी भूताग्नि उपलब्ध नहीं होती। इसलिए वह वैदिक ऋषि की इस दृष्टि को नहीं समझ पाता कि एक ही अग्नि अनेक रूप धारण कर लेती है। दूसरी ओर ऋग्वेद (८.५.८.२) स्पष्ट कहता है कि एक ही अग्नि अनेक रूप धारण कर लेता है–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः। ऋग्वेद (५.३.१) कहता है कि हे अग्नि! तुम ही वरुण हो, तुम ही मित्र बन जाते हो, सब देवता तुममें हैं, तुम यजमान मनुष्य के लिए इन्द्र बन जाते हो–

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय।।

देवप्राण

वेद के इस प्रकार के वक्तव्य सामान्यतः पाठक को पहेली जैसे प्रतीत होते हैं। इसलिए इस विषय पर थोड़े स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

शतपथ ब्राह्मण (७.५.१.२१) स्पष्ट कहता है कि देव का अर्थ है प्राण–तस्माद्देवा प्राणाः। स्वयं तैत्तिरीय संहिता (६.१.४.५) भी यही कहती है– प्राणा वै देवाः। स्पष्ट है कि सभी देव प्राण हैं इसलिए अग्नि भी प्राण है। शतपथ ब्राह्मण बारम्बार (६.३.१.२१, २.२.२.५५, ९.५.१.३८) इस बात को दोहराता है कि अग्नि प्राण है–प्राणा अग्निः। जिस प्रकार अग्नि प्राण है उसी प्रकार अन्य देवता भी प्राण है। गोपथ ब्राह्मण (२.४.११) कहता है कि वरुण प्राण है– यः प्राणः स वरुणः। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (३.१.३.६) कहता है कि मित्र प्राण है–प्राणो मित्रम्। शतपथ ब्राह्मण (६.१.२.२८) कहता है कि इन्द्र प्राण –प्राण इन्द्रः। एक अन्य स्थल पर शतपथ ब्राह्मण (१२.९.१.१.४) बलपूर्वक कहता है कि इन्द्र और कुछ नहीं है प्राण ही है–प्राण एव इन्द्रः। ब्राह्मणग्रन्थों के इन वचनों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद का अग्नि को मित्र, वरु ण या इन्द्र बताना प्रमत्त प्रलाप नहीं है प्रत्युत सर्वथा युक्तिसङ्गत है। इसका समीकरण इस प्रकार होगा–

(i) अग्नि = प्राण
प्राण = वरु ण
अग्नि = वरु ण

(ii) अग्नि = प्राण
प्राण = मित्र
अग्नि = मित्र

(iii) अग्नि = प्राण
प्राण = इन्द्र
अग्नि = इन्द्र

(iv) अग्नि = प्राण
प्राण = देव
अग्नि = देव

बहुदेववाद तथा एकदेववाद

उपर्युक्त चतुर्थ समीकरण के अनुसार अग्नि का किसी भी देवता के साथ तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण (२.३) ने कह दिया कि अग्नि ही सब देवता है–अग्निः सर्वा देवताः। वस्तुतः सब देवताओं को प्राण रूप समझ लेने पर वेद के बहुदेवतावाद में अन्तर्निहित एकदेवतावाद का रहस्य समझ में आता है। ऐसा कहा जाता है कि एकदेववाद का प्रादुर्भाव परवर्ती वैदिक काल में हुआ इसलिए उसके सङ्केत तथाकथित अर्वाचीन प्रथममण्डल अथवा दशममण्डल में ही प्राप्त होते हैं, किन्तु हम देखते हैं कि पश्चिमी विद्वानों द्वारा ऋग्वेद (८.५.८.२) के प्राचीन माने जाने वाले अंश में भी बहुदेववाद में एकदेववाद का दर्शन ऋषि द्वारा उस समय अभिव्यक्त हुआ है जब वह कहता है कि एक ही अग्नि अनेक रूपों में समिद्ध है, एक ही सूर्य विश्व में व्याप्त है, एक ही उषा सब ओर प्रकाशित है। वस्तुतः यह एक ही सब कुछ बन गया है–

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः एक सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।।

प्रश्न होता है कि यदि एक ही प्राण अनेक देवताओं से अभिहित है तो उस देव का एक ही नाम क्यों नहीं दे दिया गया, अनेक नामों की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए यास्काचार्य (निरुक्त, ७.२) कहते हैं कि देवता एक ही है, किन्तु उसके नाम अनेक हैं क्योंकि उनके कर्म पृथक्-पृथक् हैं–तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। इसकी व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य कहते हैं कि देवताओं का ऐश्वर्य इतना अधिक है कि उनके अनेक रूप हैं और इसलिए उनके नाम भी अनेक हैं– महाभाग्यादैश्वर्ययोगादेकात्मनामनेकधा विकुर्वन्तीनामेकैकस्याः प्रतिविकारं जातवेदा वैश्वानरो वरुणो रुद्रोऽश्विनौ उषा इत्येवमादीनि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। यदि वैदिक देवों का वास्तविक स्वरूप जानना हो तो उनके कर्म को समझना चाहिये । मूलतः वे सभी प्राण हैं, किन्तु उनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए यास्क (निरुक्त, ७.१) ने उन्हें कर्मजन्मा कहा है। इस पर दुर्गाचार्य का कहना है कि यदि यह देवता भिन्न-भिन्न कर्मानुकूल रूप धारण न करे तो संसार में कर्म के फल की सिद्धि ही न हो– न ह्येतेभ्य ऋते लोकस्य कर्मफलसिद्धिः स्यात्। अपना-अपना कर्म करने में सभी देव महान् हैं इसलिए किसी देव को दूसरे देव से छोटा नहीं माना जा सकता, अपितु जिस कर्म का वर्णन होता है उस कर्म के अधिष्ठाता देव को उस कर्म का वर्णन करते समय सर्वोच्च बना दिया जाता है। ऋग्वेद (८.३०.१) कहता है कि देवताओं में कोई छोटा नहीं, सभी महान् हैं–न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतो महान्त इत्।

ज्ञान तथा विज्ञान

एकदेववाद तथा बहुदेववाद के इस प्रसंग में ही ज्ञान तथा विज्ञान की भी संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी। अनेक से एक की ओर जाना ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञान का विषय है। इसके विपरीत एक से अनेक की ओर जाना विज्ञान अथवा यज्ञविद्या का विषय है। पण्डित मधुसूदन ओझा के ग्रन्थ महर्षिकुलवैभवम् का उपोद्घात (पृष्ठ ३) लिखते समय उनके शिष्य महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने कहा है– एकस्माद् अनेकस्मिन्नवतरणं विज्ञानं यज्ञविद्या तथा अनेकस्मादेकस्मिन्नारोहणज्ञानं ब्रह्मविद्या। विज्ञान का यज्ञ तथा कर्म से सम्बन्ध तैत्तिरीय आरण्यक (८.५.१) तथा तैत्तिरीयोपनिषद् (२.५.१) में यह कहकर स्थापित किया गया है कि विज्ञान से यज्ञ का तथा कर्मों का विस्तार होता है–विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च। इसी श्रुतिप्रमाण के आधार पर गीता(१८.४२) पर भाष्यं लिखते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने कहा कि विज्ञान कर्मकाण्ड में यज्ञादि कर्म करने की कुशलता का नाम है–विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशलम्।

यद्यपि ज्ञान और विज्ञान दोनों का क्षेत्र क्रमशः एकता और अनेकता होने के कारण पृथक् है तथापि दोनों एक –दूसरे के परिपूरक हैं। अनेक की अवधारणा के बिना एक की अवधारणा निरर्थक है और एक की अवधारणा के बिना अनेक की अवधारणा निराधार है। इसलिए यजुर्वेद (४०.१२) में विद्या और अविद्या के समन्वय पर बल दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो विद्या अर्थात् ज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म दोनों को साथ-साथ जानता है वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है–

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

ज्ञान और विज्ञान के इस समन्वय को और भी स्पष्ट करते हुए गीता(७.२) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को विज्ञान सहित ज्ञान देने की बात कही है–ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। गीता (८.१) में इसी बात को दोहराते हुए कृष्ण ने फिर 'ज्ञानं विज्ञानसहितम्' (९.१) कहा है। इसके बावजूद भारत में जब ज्ञान का तो यशोगान हुआ, किन्तु कर्म की निन्दा हुई तो स्वाभाविक था कि विज्ञान का भी ह्रास हो गया क्योंकि जैसा हम ऊपर तैत्तिरीय आरण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के साक्ष्य द्वारा कह चुके हैं कि कर्म का विज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान का महत्त्व असन्दिग्ध है किन्तु उपर्युक्त श्रुति तथा स्मृति के प्रमाणानुसार ज्ञान के समान ही विज्ञान भी आदरणीय है तथा उपास्य है। परवर्ती काल में इस बात को भुला देने से विज्ञान तथा तदाश्रित कर्म की उपेक्षा से भारतीय संस्कृति में जो एकाङ्गिता आई वही हमारे ह्रास का मुख्य कारण बनी। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम प्रयत्न करेंगे कि श्रुति और स्मृति के

आदेशानुसार ज्ञान तथा विज्ञान दोनों को समान महत्त्व दें और भारतीय चिन्तन की श्रौत स्मार्त सर्वाङ्गीणता को उजागर करें। जिसे श्रुति विद्या-अविद्या कहती है, गीता ज्ञान-विज्ञान कहती है उसे ही आगम शिव और शक्ति कहते हैं। ज्ञान शिव है, कर्म उसकी शक्ति है तथा शक्ति और शक्तिमान् में अविनाभावसम्बन्ध है-ज्ञानं शिवः कर्म च तच्छक्तिः शक्तिशक्तिमतोश्चाविनाभावः (महर्षिकुलवैभवम् उपोद्घात, पृष्ठ ५)। ज्ञान और विज्ञान के इस अविनाभावसम्बन्ध को आधुनिक काल में इस प्रकार प्रकट किया गया है कि विज्ञान का कार्य विश्लेषण है, ज्ञान का कार्य संश्लेषण है। और ये दोनों एक -दूसरे के बिना अधूरे हैं, क्योंकि ये दोनों ही कार्य हमारे ही मस्तिष्क के दो भिन्न भिन्न भागों के कार्य हैं-

हमारे मस्तिष्क का बायां भाग पूर्वापर रूप में विश्लेषण करने में अधिक कुशल है। इसका काम सूचनाओं को सरल रेखाकार क्रमिक रूप में व्यवस्थित करना है। मस्तिष्क का दाहिना भाग, जो बायें भाग को नियन्त्रित करता है, मुख्यतः समग्रता से विचार करता है जो कि संश्लेषण के लिये अधिक उपयुक्त है और जो सूचनाओं को फैलाकर युगपद् देखता है।[३]

संदर्भ-

1. The problems of language here are really serious. We wish to speak in some way about the structure of atoms—But we cannot speak about atoms in ordinary language. Tao of Physics Frit of Capra. द्वारा पृ. ५३ पर उद्धृत
2. The Knowledge about matter of this level is no longer derived from direct sensory experience, and therefore our ordinary language, which takes its image from the world of the senses is no longer adequate to describe the observed phenomena. उपरिवत्, पृ. ६० पर उद्धृत
1. Left hemisphere, which seems to be more specialized in analytlic, linear thinking which involves processing information sequentially; the right hemisphere, controlling the left side seems to function predominantly in a holistic mode that is appropriate for synthesis and tends to process information more diffusely and simultaneously. Fritjof Capra, The turning Point पृ २९३

पीठाचार्य, धर्मदर्शनसंस्कृति शोधपीठ

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर